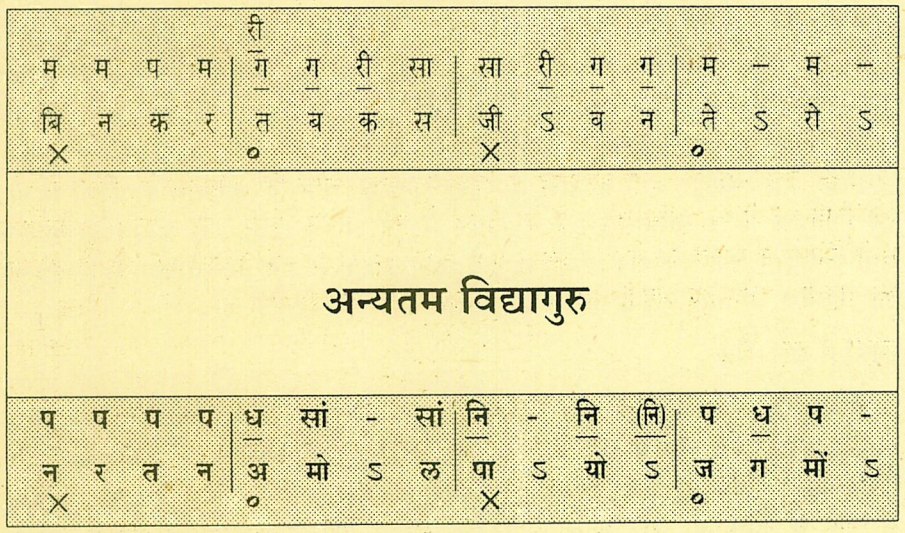

संगीत विद्या एवं कला की साधना में सुयोग्य गुरु से पक्की तालीम प्राप्त होना अत्यंत महत्त्वपूर्ण और उतनी ही दैवयोग से नसीब होनेवाली न्यामत है। ऐसा गुरु जो स्वयं अपनी विद्या में प्रवीण हो, गायनकला के सौंदर्यपक्ष पर अधिकार रखता हो और शिष्यों का योग्य रूप में मार्गदर्शन करने तथा शिष्य को पूरी विद्या प्रदान करके उसे परिपूर्ण बनाने की दृष्टि और लगन रखता हो। आदर्श गुरु का यह भी एक लक्षण है कि उसे शिष्य का विकास अंधानुकरण के रास्ते से नहीं होने देना चाहिए। उसे शिष्यों को अपनी 'फोटोकापी' बनाना नहीं होता है। जो गुरु धनलाभ पर नजर रखकर विद्यादान करता है वह आदर्श गुरु के पैमाने से गिर जाता है। हमारे महामहिम गुरुवर अण्णासाहब रातंजनकरजी में ये सभी गुण पूरी बुलंदी पर मौजूद थे। उनके हम सभी शिष्य अपने भाग्य को बराबर सराहते रहते हैं कि कितने खुशनसीब हम हैं कि हमें ऐसे सर्वश्रेष्ठ गुरु का प्रदीर्घ निकट सान्निध्य और मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। खासकर हम जैसे वे शिष्य जिन्हें अण्णासाहब से सीना-ब-सीना तालीम मिली, इतने लाभान्वित हुए कि संगीत के सारे द्वार मानो हमारे लिए खुल गए। अण्णासाहब ने केवल हमें संगीत का ज्ञान नहीं प्रदान किया बल्कि जीवन-दर्शन का पाथेय भी उन्होंने हमें जुटा दिया। त्याग, तपस्या, सेवा, निगर्विता, अध्यवसाय और अनुसंधान उनके विद्या-गुरु व्यक्तित्व की लक्षणीय विशेषताएं थीं। हम उन्हीं आदर्शों को अपने जीवन में उतारते रहे हैं और अपनी शक्तिभर इन्हीं आदर्शों पर अद्यावधि चल रहे हैं।

लखनऊ मैरिस कॉलेज १९२६ में खुला। उस वक्त शुरू में उस प्रदेश के ही छात्र अधिक मात्रा में रहते थे। उसके बाद सर्वप्रथम बंगाल से आए हुए व्यक्तियों का अंतर्भाव हुआ। धीरे धीरे महाराष्ट्र से और दूर दूर से छात्र आने लगे। पं. भातखंडेजी का अधिष्ठान और अण्णासाहब का नेतृत्व निकट से लेकर दूर दूर तक के होनहार संगीत-साधकों के आकर्षण का केंद्र बन गया। इसके फलस्वरूप लखनऊ मैरिस कॉलेज में अखिल भारतीय संगीत-साधकों का एक परिदृश्य ही मानो उभरता गया। धीरे धीरे महाराष्ट्र से और अन्य राज्यों से छात्र आने लगे।

अन्य राज्यों से आनेवालों में सबसे प्रथम कर्नाटक (बंगलोर) से हमारे चिदानंद नगरकर आए १९३५ में - फिर जुलाई '३६' में श्री एस.सी.आर. भट और अगस्त १९३६ में मैं। इसके बाद दो-एक वर्षों के अंतराल से दिनकर कायकिणी, प्रभाकर चिंचोरे, गोविंद दंताळे, श्रीमती सुमति मुटाटकर, श्रीमती सुशीला मिश्रा-नंबियार ऐसे कुछ शिष्य संपूर्ण जीवन को ही संगीत विद्या के पीछे समर्पित करने के इरादे से आए थे। इसके साथ ही आसपास के प्रदेशों से भी ऐसे निष्ठावान शिष्य सम्मिलित हुए थे। आज मैं यह अभिमानपूर्वक कह सकता हूँ कि इन सभी शिष्यों ने संगीत के क्षेत्र में अपना एक स्थान बनाया है और अण्णासाहब के ही उसूलों का अनुसरण करते हुए अपनी साधना और विद्यादान में प्रवृत्त रहे हैं।

छात्रों में स्तर-भेद

मैरिस कॉलेज में छात्रसंख्या तो विपुल रही । तो इन शिष्यों में स्तरभेद होना स्वाभाविक ही है। छ:सात सौ छात्रों में स्तरभेद तो था ही। आम तौर पर देखा जाए ऐसे तीन-चार स्तर मिल सकते हैं। एक तो वे कि संगीत को ही अपना 'करिअर' या जीवनक्षेत्र बनाने के उम्मीद से आए थे, दूसरे ऐसे छात्र थे जो संगीत को आधार बनाकर व्यावसायिक क्षेत्र में पदार्पण करना चाहते थे - जैसे विद्यालय चलाना, चित्रपटों को संगीत देना इत्यादि । तीसरे वे छात्र थे जो शौकिया तौर पर संगीत सीखना चाहते थे - और ऐसे छात्रों की संख्या सर्वाधिक थी । लेकिन यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि जो छात्र जिस कामना से कॉलेज में दाखिल हुए थे वे अपनी कामना में आगे सफल भी हुए।

अब म्यूजिक डाइरेक्टर रोशनजी नागरथ को लीजिए, जिनका नाम आज भी फिल्मी जगत् में बहुत ऊपर है। ये पंजाबी संगीतकार अण्णासाहब के शागिर्द रहे हैं। आज राकेश रोशन और राहुल रोशन, उनके दोनों बेटे, संगीत की दुनिया में चमक रहे हैं। श्रीमान एस. एम. (श्रीनाथ) त्रिपाठी (हिंदी के कविसम्राट्, 'निराला' के भतीजे,) पारसी महिला खोर्शेद होमजी ऊर्फ सरस्वती देवी, जो पहले पंडितजी से तालीम ले चुकी थीं, लेकिन उसके बाद ज्यादातर शिक्षा उन्होंने अण्णासाहब से ही पाई । वे 'बॉम्बे टॉकीज' की संगीत निर्देशक थीं; अशोककुमार आदि अभिनेताओं को उन्होंने गवाया था। एक और शागिर्द न्यू थिएटर्स, कलकत्ता के पहाड़ी सन्याल जो गायक, संगीत निर्देशक और अभिनेता सब कुछ थे। फिर अंबिक मजूमदार जो मॅडम मेनका के ट्रूप के साथ म्यूजिक डाइरेक्टर की हैसियत से जर्मनी गए थे। अण्णासाहब मेरे पास हमेशा उनकी आवाज की तारीफ किया करते। श्री. रवींद्रलाल रॉय, आज की ख्यातिप्राप्त गायिका मालविका कानन के पिता। इन्होंने अण्णासाहब से तालीम ली और संगीतशास्त्रज्ञ (म्यूजिकालॉजिस्ट) के रूप में अपने व्यक्तित्व को विकसित किया। उन्होंने मंच पर गाया भी है, फिर भी अधिकतर विद्वत्ता के पक्ष को ही अपनाया। इनके बड़े भाई हेमेंद्रलाल रॉय महर्षि अरबिंदो के निकटवर्ती प्रख्यात संगीतप्रेमी दिलीपकुमार रॉय के भतीजे थे। उनको दिलीपकुमारजी ने सलाह दी थी कि तुम हमारे श्रीकृष्णा के पास जाओ और वहां सीखो। दोनों भाई साइन्स ग्रेज्युएट थे। उन्होंने कॉलेज की त्रैमासिक पत्रिका 'संगीत' को चलाया था।

उस काल की एक विशेष बात यह थी कि बंगाल में जो बुद्धिसंपन्न लोग थे उनमें से कतिपय परिवार यू. पी. में आकर बस जाते थे। इस प्रकार कई बंगाली सज्जन लखनऊ, इलाहाबाद वगैरेह शहरों के विश्वविद्यालयों-महाविद्यालयों में प्राध्यापक बनकर तथा और इसी प्रकार का

कोई काम पाकर आ गए थे। इनमें श्री चिन्मय लाहिरी का नाम उल्लेखनीय है, जो एक अच्छे मंच गायक रहे। आज की जानी-मानी गायिका बेगम परवीन सुलताना उनकी शिष्या हैं। परवीनजी ने अपनी सबसे पहली दीर्घ ध्वनिमुद्रिका (एल्. पी.) में अण्णासाहब की ही बंदिशें और सालग वराळी और नारायणी राग गाए हैं। बंगलोर से आए हुए हमारे चिदानंद नगरकर उस समय के मंच के तगड़े कलाकार थे। वे अल्पायु में चल बसे, किंतु फिर भी उनका बड़ा नाम हो गया था। भारती विद्याभवन, बंबई के संगीत विभाग के वे प्रिंसिपल भी रहे। चिन्मय लाहिरी 'मैरिस' में उन्हीं की कक्षा में थे।

महाविद्यालय से शिक्षक के रूप में जिन साधकों ने नाम कमाया उनकी संख्या भी कम नहीं है। कइयों ने संगीत पर पुस्तकें भी लिखीं। श्री श्रीपदो बंदोपाध्याय ने 'सितार मार्ग' और संगीतशास्त्र पर अन्य पुस्तकें लिखीं जो उस काल में काफी प्रसारित हुईं। श्रीमान रामनारायण त्रिपाठी गोरखपुर विश्वविद्यालय में संगीत के प्राध्यापक थे। श्री शत्रुघ्न शुक्ला थे जो दिल्ली विश्वविद्यालय कलासंकाय के अधिष्ठाता (डीन ऑफ म्यूझिक फैकल्टी) थे। उन्होंने ठुमरी पर शोध-कार्य किया है। मेरे ज्येष्ठ गुरुबंधु पं. एस. सी. आर. भट का नाम आज भी एक आदर्श शिक्षक के रूप में चमकता है। हमारे पं. सी. आर. व्यास तो कहते हैं कि अगर पत्थर को गवाना हो तो भटसाहब गवा सकते हैं, इतना धैर्य उनके पास है। भट साहब पहले अण्णासाहब के प्रथम गुरु श्री कृष्णभट्ट होनावर के पास कुछ काल सीखे हुए थे। मंच के कलाकार तो आप रहे ही, लेकिन उनको विशेष सफलता छात्रों में सुर और ज्ञान भरने में मिली। यह अण्णासाहब का ही करतब था कि उन्होंने भटसाहब को एक शिक्षक के रूप में विकसित किया। होनावरजी से सीखे हुए होने से उन्हें स्वरज्ञान देने का तरीका मालूम था। अण्णासाहब ने एक दिन उन्हें अपने आफिस में बुलाकर आदेश दिया कि कल से तुम्हें एफ़. वाय. की कक्षा लेनी होगी। उन्होंने दो-तीन वर्ष तक प्राथमिक कक्षाएं लीं और उसके बाद उच्च कक्षाएं भी लेने लगे। मैं स्वयं जब चौथे वर्ष में था तब हमारे बालकवर्ग की कक्षा आप ही लेते थे। उस हिसाब से वे एक साथ मेरे गुरुबंधु और गुरु हैं। अपने अध्यापक होने की घटना का जिक्र भटसाहब अक्सर किया करते हैं। जब अण्णासाहब ने उन्हें अचानक एक कक्षा की पढ़ाई सौंप दी तो पहले तो वे सिटपिटा गए। फिर धीरज बटोरकर बोले -

"मैं एक शर्त पर क्लास लूंगा।"

"बोलो क्या है?"

"यदि आप हफ्ते में दो एक बार मेरी कक्षा में आकर मार्गदर्शन करेंगे तभी यह दायित्व मैं उठा सकूंगा।"

इसपर अण्णासाहब खुलकर हंस पड़े और कहा -

"अरे, हम तो इसीलिए यहां बैठे हैं। और आगे सुनो । सिखाते वक्त तुम्हें कोई कठिनाई महसूस हो तो सीधे मेरे पास आके पूछो। मैं तुम्हारी समस्या हल कर दूंगा।"

लक्षणीय विशेषताएं

एक आदर्श विद्या-गुरु के नाते अण्णासाहब की जो सबसे बड़ी विशेषता थी, जिसने मुझे बहुत प्रभावित किया है वह यह कि वे कभी पाठ्य पुस्तक, परीक्षा आदि को मद्देनजर रखकर सिखाते नहीं थे। एक गवैये के ढंग से वे क्लास लेते थे। छात्रों के सामने उच्च श्रेणी के गायन

का आदर्श प्रस्तुत करते थे और उसीका अनुसरण करने की प्रेरणा छात्रों में अपने आप जाग उठती थी। कक्षा में प्रवेश करते ही उनकी आज्ञा होती थी - "किताबें बंद करो।" मैं जीती-जागती किताब जो तुम्हारे सामने हूं! मैं गाता चलूंगा, तुम मेरा अनुसरण करते करते सीख लो।

१९३८-३९ का मेरा अनुभव रहा है कि यदि कोई विद्यार्थी क्लास में पुस्तक लाता तो उसे ५० रुपये जुर्माना देना पड़ता। उस जमाने के हिसाब से पचास की कीमत आंकिए। अण्णासाहब का मंतव्य था कि किताब की वजह से संगीत की तालीम में ध्यान बिखर जाता है। संगीत की भाषा किताबों में नहीं कंठ में होती है। उसका उच्चारण गुरुमुख से सुनकर अपने कंठ के द्वारा उसे पक्का कर लेना होता है।

शुरू में तीसरे से लेकर चौथे वर्षतक की कक्षाएं अण्णासाहब ही लेते थे। किंतु जब छात्रसंख्या बहुत बढ़ गई और शिक्षकगण भी भरती हो गए तब उन्होंने ज्यूनियर विशारद (चौथा वर्ष) और सीनियर विशारद (पांचवां वर्ष) की कक्षाएं अपने जिम्मे ले लीं। इन ऊंची कक्षाओं में उनके गहन और विशाल ज्ञान के लिए अधिक गुंजाइश मिलती रही। इस दौरान अनेक कूट रागों का ज्ञान उन्होंने छात्रों को दिया।

अण्णासाहब की कक्षा का ठाठ भी शानदार रहता था। कक्षा में हमेशा एक सारंगिया तैनात रहता और तबलिया। यानी उनकी क्लास एक महफिलनुमा ही बन जाती थी। फलत: उनकी इस क्लास का आकर्षण उस कक्षा में न पढ़नेवाले छात्रों और दूसरे दूसरे रसिकों को भी रहा करता। जब वे पढ़ाते होते तो उनकी कक्षा सुनने के लिए कक्षा के कमरे के बाहर खिड़की के पास कम से कम पचास व्यक्ति खड़े रहते थे। और यों नियमित रूप से सुननेवाले स्टाफ में भी कम नहीं थे। इनमें उस्ताद हामिद हुसेन खां सितारिए को तो हमने कई बार देखा है। अब इस समूचे माहौल का असर हम शिष्यगणों पर हुए बिना कैसे रहता? इस वातावरण से एक 'प्रॅक्टिकल म्यूजिशियन' का आदर्श ही हमारे सामने उपस्थित हो जाता। क्योंकि इस पढ़ाई में मात्र पाठ्यक्रम को पूरा कर छोड़ने का मकसद नहीं था।

एक और अभिनव प्रक्रिया को वे अपनी शिक्षा-विधि में गंभीरतापूर्वक कार्यान्वित करते थे। हर शनिवार को किसी न किसी विद्यार्थी को सामने बिठाकर प्रात्यक्षिक के द्वारा वे उसे मंचगायन की कला का सबक देते। मंच पर उस छात्र का गायन या वादन श्रोताओं की उपस्थिति में करवाया जाता और इसी प्रस्तुति के दौरान गुरुवर वहीं बैठकर उसे बीच बीच में हिदायतें देते हुए उसे मंचगायन की दिशा में विकसित करते। इसमें राग के चलन के जो अलग अलग दायरे हैं उन्हें वे उसके सामने खोल देते। और यह सब सौ डेढ़-सौ की सभा में हो जाने से छात्र को भी ढाढ़स बंधता। हमारे भटसाहब का ही उदाहरण लीजिए। उन्हें सीधे 'मध्यमा' में प्रवेश दिया गया था। चार महीने बाद उन्होंने परीक्षा दी और चौथे वर्ष में दाखिल हो गए। हर महीने की मंचशिक्षा के लिए उनका नंबर आया। अण्णासाहब ने श्री भट साहब को 'श्री' राग पेश करने का आदेश दिया। अब कुछ कारणवश, 'श्री' राग में जो कि वस्तुत: मध्यमा के लिए मुकर्रर था, भटसाहब की तैयारी नहीं हो सकी थी। तब अण्णासाहब ने दो महीने इस राग की तालीम उन्हें दी। फिर कहने लगे कि मुझे देखना है कि तुमने इस राग को कहां तक ग्रहण किया है। मंचगायन के प्रसंग में भट साहब ने 'श्री' राग को पेश किया। जब बढ़त शुरू हो गई तब गाड़ी बीच बीच में अड़ने लगी। अण्णासाहब वहां मौजूद थे ही। उन्होंने वहींपर श्री राग के प्रस्तुतीकरण की तालीम उन्हें दे दी। डेढ़ दो घंटे तक यह उपक्रम चलता

रहा और इस प्रकार भटसाहब के दिमाग में इस राग के मंचगायन का तरीका पक्का बैठ गया। उन्होंने इस अवसर पर इतनी सुंदर प्रस्तुति की कि अण्णासाहब ने उसी वक्त उन्हें आश्वासन दिया तुम जब कभी हो सके मेरे पास आते रहो। फिर क्या? कहने मात्र की देरी थी भट साहब उनसे चिपक गए। जब भी देखो, मैं भट साहब को गुरुवर के साथ देखने लगा। आगे ऐसा हुआ कि कॉलेज के लिए कमरे कम पड़ने लगे, सो जो कमरे होस्टेल के रूप में इस्तेमाल होते थे कक्षाएं होने लगीं। भटसाहब के लिए आवाज की और कोई व्यवस्था नहीं थी, इसलिए वे हमारे साथ ही रहने के लिए आ गए। इससे अण्णासाहब की और अधिक निकटता का लाभ उन्हें हुआ। और अनौपचारिक तालीम का सिलसिला बन गया। सच तो यह है कि वक्त से तालीम होना दुश्वार ही था। कॉलेज के प्रशासनिक और शैक्षणिक दायित्वों के कारण अण्णासाहब को हमारे लिए समय बहुत कम मिलता था कि यों कहें कि "आओ बैठो, शुरू हो जाओ।" लेकिन हमें टाइम टेबल की परवाह कहां? हम तो विद्याध्ययन के लिए ही वहां पहुंचे हुए थे। बस, जब मिले, जितना मिले उसे ग्रहण करते चलते थे। और मैं आपको यह बताना चाहूंगा कि बेवक्त की जो तालीम अण्णासाहब से हमको मिली वह जितनी रोचक और रंजक उतनी ही लाभकर हुई। होता यों था कि कॉलेज आठ बजे बंद हो जाता था। कॉलेज का प्रधान चपरासी ही हमारा रसोइया भी था। इसलिए रात आठ बजे के बाद उसका खाना बनाने का उपक्रम आरंभ हो जाता था, १०-१०॥ तक खाना बन जाता था। तब तक अण्णासाहब अपने कक्ष में पढ़ाई-लिखाई करते हुए बैठे रहते थे। दैनंदिन क्लासों के समाप्त हो जाने के बाद बीच के समय में हम लोग बगल के कमरे में ही रियाज करते थे। इसी बीच गुरुवर उपस्थित हो जाते और फिर तालीम का सिलसिला जारी हो जाता । ऐसे वक्त में घंटे दो घंटा का सवाल ही नहीं उठता था। इधर खाना ठंडा हो रहा है, चपरासी खाना तैयार होने की सूचना दे रहा है - लेकिन उसे कहेंगे - "ठहरो, अभी फुर्सत नहीं" और यह सिलसिला रात के डेढ़ दो बजे तक चलता रहता। खाने का प्रोग्राम उसके बाद हो जाता।

कभी उलटे ढंग से भी वही क्रम चलता था। बीच बीच में अत्यधिक कार्यों से निपटने के बाद कपड़े बदलकर अण्णासाहब आरामकुर्सीपर विश्राम करने बैठे जाते थे और श्रमपरिहार के तौर पर कुछ गुनगुनाने लगते। इधर उनकी आवाज हमारे कान तक पहुंचती। हम कह उठते - "अरे, अण्णासाहब कुछ गुनुगुना रहे हैं।" तब भटसाहब चुपके से उनके दरवाजे से कान लगाकर उस स्वर को पकड़ लेते और कमरे में आकर उसी स्वर में तंबूरा मिलाकर उसे छेड़ते हुए उनके कमरे में प्रविष्ट हो जाते। तब "अरे, अच्छा तुम आ गए। चलो बैठो।" जैसी बात से गाने का और समझाने का क्रम घंटों तक चलता रहता। इस प्रकार अण्णासाहब की व्यस्तता को देखते हुए भी हम लोग भी उन्हें सिखाने पर मजबूर कर देते थे। याने हम ऐसा वातावरण बना लेते कि उन्हें सिखाने में उत्साह का अनुभव होता।

इस प्रकार हमने लखनऊ के कॉलेज में सही अर्थ में गुरुकुल के वातावरण की अनुभूति बराबर पाई है। इसलिए तो हम लोगों तक अण्णासाहब का कुछ प्रसाद पहुंच पाया।

अन्य कलाकारों पर असर

शिक्षा क्रम का असर वहां आनेवाले जानेमाने गायकवादक कलाकारों पर भी होना स्वाभाविक था। बड़े बड़े कलाकार लखनऊ अक्सर आया ही करते थे । आकाशवाणी के सिलसिले में,

संगीत समारोहों में या और किसी कारण से। भातखंड़े महाविद्यालय के परिसर में होनेवाले विद्या और कला के समन्वय से युक्त वातावरण से वे अत्यधिक प्रभावित होते थे और अपनी प्रतिक्रिया को खुले मन से घोषित करके अपना संतोष व्यक्त करते थे। ऐसे अनेक संस्मरण मेरे पास हैं। उनमें से दो-एक का जिक्र यहां करता हूं। उस जमाने के अखिल भारतीय ख्यातिप्राप्त पं.डी.वी. उर्फ बापूराव पलुस्कर प्रोग्राम के लिए प्राय: लखनऊ आया करते थे और जब आते तो भट साहब और वी. जी. जोग के यहां टिकते। फिर घरेलू महफिल हो जाती थी। बापू और हम सब हमउम्र ही थे। तो अनौपचारिक महफिल आरंभ हो गई। भट साहब ने पहले डेढ़ घंटे तक शुद्ध कल्याण जमके गाया। बाद में बापू ने मल्हार पेश किया। दूसरे दिन खाना खाने के लिए हम सब इकठ्ठे बैठे थे। बापू कहने लगे -

"भटसाहब, मैं ब्राह्मण का लड़का हूं। अन्न मेरे हाथ में है। मैंने भी शुद्ध कल्याण सीखा है, लेकिन शुद्ध कल्याण को किस तरह गाना चाहिए, इसे मैंने आज आपके गायन से सीखा।"

ये बापू के शब्द थे!

एक और प्रसंग। पं. ओंकारनाथ एक बार लखनऊ पधारे थे। उस काल पंडित ओंकारनाथजी की धाक सर्वत्र बंधी हुई थी, जिसके वे अधिकारी भी थे। किंतु किसी तात्त्विक कारणवश पंडितजी और हमारे अण्णासाहब के बीच एक वैमनस्य-सा पैदा हो गया था। खूब लड़ाई-झगड़े तक बात पहुंच गई थी। पं. दिलीपचंद वेदीजी ने बीचबचाव करके उस विवाद को तुलने नहीं दिया था। पं. ओंकारनाथजी को लखनऊ के म्यूजिक सर्कलने निमंत्रित किया था, जिसका गठन स्थानीय विश्वविद्यालयीन प्राध्यापकों ने किया था। संयोगवश उसी वर्ष लखनऊ रेड़ियो स्टेशन खुल गया था। इलाहाबाद के युनिवर्सिटी प्रोफेसर दक्षिणारंजन (ड़ी. आर.) भट्टाचार्य के सुपुत्र एन. आर. भट्टाचार्य जो कि एक ही साथ अण्णासाहब के शागिर्द थे और ओंकारनाथजी भी परम भक्त थे । उस काल आकाशवाणी पर संगीत के प्रोड़यूसर थे। उन्होंने ओंकारनाथजी को मनाने में सफलता पाई और परिषद में गाने के लिए उनका आना तय हो गया । इसीके साथ उनके और दो एक प्रोग्राम भी तय हुए। अब ओंकारनाथ जी के व्यक्तित्व में एक प्रकार की अकड़ तो थी ही। उन्होंने लखनऊ पहुंचने पर संयोजकों से पूछा -

"तंबूरा छेड़ने के लिए कोई संगीत विशारद है यहां?"

याने व्यंजना यह थी कि यहां के सभी संगीत विशारदों की दौड़ तंबूरा छेड़ने तक ही है। भटसाहब ने यह बात सुनी और मन ही मन तय किया कि इनके व्यंग्यबाण का प्रत्युत्तर देना ही होगा। तंबूरे पर साथसंगत के लिए भटसाहब और हमारे गुरुबंधु भट्टाचार्य का बैठना तय हो गया। बिछायत बिछ गई थी। भटसाहब ने भट्टाचार्य को पहले मंच पर चढ़ने दिया और पंडितजी के विराजमान होते ही उनके पीछेसे आप दूसरा तंबूरा लेकर बैठ गए। 'छायानट' का ख्याल शुरू हो गया - 'करत हो मोसे नेहा की बतियां।' पंडितजी बीच में रुकते तो भट्टाचार्य सुर लगाते - इधर ओंकारनाथजी ने एक पेचीदा हरकत निकाली तो तुरंत उसके उलटी पेचीदा हरकत भटसाहब ने लेकर दिखाई। जिस क्रम से ओंकारनाथजी पलटे भरते थे, उसके उलटे क्रम से भटसाहब पलटे भरने लगे। परिषद का माहौल भी खास था । सामने मुश्ताक हुसेन तथा और कलाकार हाजिर थे। ओंकारनाथजी भटसाहब की 'संगति' पर प्रसन्न हुए। आखिर वे भी तो हृदय से कद्रदान कलाकार ही थे! उनके मुख से निकल पड़ा "शाबाश, बेटा!" तो भटसाहबने धीरे से कहा– "जी, मैं तो एक संगीत-विशारद हूं"।

तो वह यह जमाना था, जब मैरिस कॉलेज का शिष्य वर्ग भी जाने माने कलाकारों की प्रशंसा का पात्र बना था। और यह सब अण्णासाहब के चतुरस्र विद्यागुरु नेतृत्व का फल था।

विविधमुखी प्रेरणा

अपने शिष्यों की विचारशक्ति और रचना-चातुर्य को बढ़ावा देने की दृष्टि से अण्णासाहब किस प्रकार के अनेक उपायों का अवलंब करते थे। उनकी विशेषता यह थी कि हरेक शिष्य को उसकी बुद्धिमत्ता के अनुसार उन्होंने पनपने दिया। जब हम लोग उनके साथ गाते तब वे हमेशा बताते कि हमारा मत गाओ, अपना गाओ। उनके शिष्यों में से कई एक मंच के कलाकार हुए, कुछ संगीत-शास्त्री हुए, कुछ अच्छे शिक्षक बने पर सबको उन्होंने स्वतंत्र रूप से विचार करने के लिए पर्याप्त छूट दे रखी थी।

इस सिलसिले में अण्णासाहब बीच बीच में कोई ऐसा नया सवाल उपस्थित कर देते जिससे छात्रों को अपने बूते पर सोचकर ही उसका जवाब खोजना होता था। इसके संबंध में एक संस्मरण बताना ठीक होगा। स्नातकोत्तर कक्षा में मैं स्वयं, प्रभाकर चिंचोरे, सुमति मुटाटकर, दाउजी गोस्वामी, गजाननराव आयलवार, गोविंद दंताळे आदि सब लोग थे। उन दिनों अण्णासाहब को परीक्षाएं भाषण, परिषद आदि कारणों से दौरे पर जाना पड़ता था। और हमारी कक्षाएं तो उन्हींके जिम्मे थीं। इसलिए प्राय: अण्णासाहब खासकर जब लंबी यात्रा पर जाते तब हम छात्रों को कुछ न कुछ अध्ययन कार्य सौंपकर जाते और कह रखते, कि मेरे आनेतक इसे तैयार करके रखो। तो इस संबंध में दो-एक रोचक प्रसंगों का बयान करनेलायक है। पहले मेरा व्यक्तिगत अनुभव बताता हूं। एक बार दौरे पर जाने से पूर्व उन्होंने हमें पूर्वी ठाठ के गौरी राग की तालीम दी थी। बंदिश की रूपरेखा हमें समझा दी, आलाप लिखवाए और उसके बाद कहने लगे कि इसपर तुम रियाज करो और जब मैं वापस लौटूंगा तब फिर आगे चलेंगे। अब मैं रोज नियमित रूप से उन विस्तारों को पढ़ता, गाता, मनन करता लेकिन पंधरा मिनिट के बाद अंधकार दिखाई देने लगता। कहीं रास्ते ही नहीं मिलते। यों तो अण्णासाहब जो लिखवाते उसे किस तरह अभिव्यक्त करना चाहिए। इसे हम जानने लगे थे। यानी किस स्वर को किस लगाव से कहने पर वह राग आएगा, यह तो हम समझने लगे थे। फिर भी अड्डोस-पड्डोस के जो समप्रकृतिक राग रहते हैं उन्हें सम्हालना कठिन हो जाता था। जरा-सा फर्क हो जाने पर रागरूप के बदल जाने की नौबत आ जाती। क्योंकि वहां हमें जो दृष्टि दी गई थी, उसमें इस बात पर बल दिया गया था कि स्वरों से राग नहीं बनता बल्कि स्वरों के विशिष्ट लगाव से राग बनता है। गौरी के बारे में मुझे इसी समस्या ने रोक रखा था। जब अण्णासाहब दौरे से लौटे तब मैंने उन्हें अपनी समस्या बताई और सो भी अकेले में। तब उन्होंने मेरी बुद्धि के अनुसार मुझे समझाया। यह उनकी एक खासियत थी। शिष्य को या किसी अन्य जिज्ञासु को वह उसके अपने स्तर के मुताबिक समझा देते थे।

गुरुवर ने मुझसे पहला सवाल किया कि तुमने बंदिश को कितनी बार दुहराया? मैंने बताया कि बस सामान्य तरीके से दो-एक बार बंदिश गाकर मैं उसके विस्तार में लग जाता हूं। तब उन्होंने स्पष्ट किया कि नहीं, ऐसा नहीं। पहले बंदिश को भलीभांति समझ लो। उसे बार बार दुहराकर देखो कि उसमें कितने सांगीतिक वाक्य हैं। उन वाक्यों के सवाल-जवाब किस प्रकार एक-दूसरेसे मिलते हैं या नहीं मिलते, तुम्हें अपने आप उसका ज्ञान होता जाएगा। तो इस

तरह उनका एक ही इशारा काफी हो जाता था, फिर हमारा दिमाग अपने आप चलने लगता था। वे हमेशा बताया करते कि प्रत्येक राग में पूर्वांग और उत्तरांग संतुलित रहना चाहिए। तभी समतौल तरीके से उसका विस्तार किया जा सकता है। इस प्रकार छात्र को दृष्टि देना, उसकी आंखें खोलना जरूरी होता है। सिर्फ यह नहीं कि हम गाते हैं, वैसा तुम गाओ। वे उसमें छिपे हुए मर्म को खोलकर बता देते थे।

अब इस गौरी का ही उदाहरण लेते हैं। पहले जब उन्होंने 'गौरी' सिखाना आरंभ किया तब शुरू में ही उन्होंने इंगित दिया कि देखो, यहां पर तुम्हें 'श्री' गाना है, लेकिन वक्र गति से गाना है। वैसे तो गौरी याने 'संपूर्ण श्री' का रूप है। याने वह सातों स्वरों से युक्त 'श्री' है। इसे और स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि 'श्री' में 'सा रे म प नि सां । रें नि ध प, म ग रे साः' ऐसे स्वर लगते हैं किंतु टुकडों-टुकडों से वह संपूर्ण हैं। जैसे–

सा ऽ रे ग ऽ रे ,ग ऽ रे सा । सा रे ग रे, प । म प ध रे ....यहां 'सा रे म प' नहीं हो सकेगा। सा रे ग रे , म प, ध म, ग रे सा रे नि सा । प ध ऽ प ध नी, प ध प, प ध नी, प ध म प ग, रे ग, म ग रे सा, रेनि सा नि ध नि । ध नी सा रे, सा रे प, म ग रे, ग सा रे सा ॥

इस तरह से वे मुझे सुझाव देते गए। फिर जब बंदिश में इन स्वरावलियों का प्रयोग होने लगा तब दिशाएं और खुलने लगीं। 'ऐरी दैया, का के पास रहिलो, मोरा पियु सिगरे घोसे चिड़िया बोलन लागी सांझ की।'' फिर इस बंदिश का एक एक वाक्य या उसका अंश लिया और उसे सजाया। एक ही वाक्य अलग अलग रूप में पेश करने की कला ही ख्याल भरना है।

इस प्रकार बराबर बंदिश का ध्यान रखकर ही ख्याल भरने पर अण्णासाहब का बल रहता था। शिक्षा-प्रणाली में बंदिश को बहुत महत्त्व दिया जाता है। वे हमें बताते कि बारबार श्रोताओं को यह लगना चाहिए कि हम बंदिश को और उसके विस्तारित रूप को सुन रहे हैं। गायक की विचारधारा या विचारशक्ति उस बंदिश के दायरे से किस प्रकार प्रकट हो रही है, इसकी अनुभूति श्रोताओं को मिलनी चाहिए। इसलिए स्थायी और अंतरे के सही पठन और उसपर मनन और चिंतन को वे बहुत महत्त्व देते थे। इसके आगे वे शिष्य की रुझान के मुताबिक उसे बढ़ने देते थे। जैसे, किसीको सरगम अंग में रुचि है तो उसे उस अंग से बताते थे। कभी कभी स्वरों पर न्यास लेने के बारे में वे कुछ मौलिक संकेत दे देते थे। उदाहरण के तौर पर जैजैवंती राग को लिया। तो वे कहते कि इस राग में सभी स्वरों पर न्यास हो सकता है - रिषभ, गंधार, पंचम, धैवत सभी पर । लेकिन यह न्यास स्वरों के अलग अलग जर्रे से होना चाहिए। आप कहां पर विराम (Pause) लेते हैं, उसपर भी उसका रूप अवलंबित रहता है। इसी प्रकार यद्यपि जैजैवंती में रिषभ वादी है, तो भी यदि हम गंधार पर हल्का-सा बल देंगे तो रिषभ अपने आप कमजोर पड़ जाता है; किंतु उसे इतना कमजोर नहीं होने देना चाहिए कि राग का रूप ही बदल जाए। कहने का मतलब यह कि अण्णासाहब के विद्यादान में इस प्रकार के तारतम्य को विशेष स्थान रहता था। अण्णासाहब से हम सबने तालीम इसी ढंग से पाई; आगे प्रत्येकने अपनी अपनी बुद्धिमत्ता और अभिरुचि के समान अपना विकास कर

लिया। और यह भी, उन्हींकी उदार दृष्टि का सुफल था। उन्होंने किसीको गुरु की फोटोकापी होने नहीं दिया।

ध्रुपद-गायन का श्रेय

अण्णासाहब से हमें ध्रुपद-धमार की जो तालीम मिली थी वह सतही तौर पर नहीं मिली थी। अण्णासाहब को स्वयं पं. भातखंडेजी ने ध्रुपद की शिक्षा दी थी और भातखंडेसाहब को ध्रुपद के संस्कार पुणे के पं. रावजीबुवा बेलबागकर, तथा उत्तर में उस्ताद जाकिरुद्दिन और सुपुत्र उस्ताद अलाबंदेखां (आधुनिक डागर गायकों के पूर्वज), तथा कच्छ के उ. नसिरउद्दिन आदि जैसे घरानेदार ध्रुपदियों को को पर्याप्त मात्रा में सुनने का अवसर मिला था। मुझे और भटसाहब को आकाशवाणी पर ध्रुपद-धमार की जुगलबंदी प्रस्तुत करने का अवसर (श्रीमान काकासाहब अंबर्डेकर आदि के प्रयत्नों से) प्राप्त हुआ तब अण्णासाहब हमें बढ़ावा देने और हमें और अधिक तैयार करने के लिए सोत्साह आगे बढ़े। इसीका फल था कि २५ वर्ष तक (१९५४ से १९७९) तक (याने भटसाहब के अवकाशग्रहण तक) हम दोनों की जुगलबंदी के प्रोग्राम आकाशवाणी पर तथा महफिलों में होते रहे। भट-गिंडे जोड़ी का ध्रुपद गायक के रूप में बोलबाला हो गया। इस संदर्भ १९५४ में घटित एक विशेष घटना का बयान करना होगा, जिस में अण्णासाहब के विद्यागुरु व्यक्तित्व का एक और पहलू उजागर होगा।

१९५६ में, जब डॉ. श्रीमती सुमति मुटाटकर आकाशवाणी पर 'डाइरेक्टर ऑफ प्रोग्राम्स' थीं, मुझे और भटसाहब को आकाशवाणी संगीत सम्मेलन का प्रातःकालीन सभा में जो दिल्ली के सप्रू हाऊस में आयोजित हुई थी, धमार के 'आइटेम' के लिए 'बुक' किया गया। (उसके पूर्व बंबई आकाशवाणी पर ऑडिशन के तौर पर हमारी जुगलबंदी पहले हो चुकी थी और १९५४ से राष्ट्रीय कार्यक्रम तथा संगीत-संमेलनों में हमने ध्रुपद गाना आरंभ किया था।) उन दिनों संगीत सभा के माध्यम से सीधा प्रसारण होता था और रागों की पुनरावृत्ति टालने के हेतु कलाकार को पूर्वसूचित तीन या चार रागों में से किसी एक का गायन/वादन करना होता था। हमें आकाशवाणी से यह सूचना भेजने के वक्त संयोगवश अण्णासाहब दिल्ली आकाशवाणी कार्यालय में ही उपस्थित थे। तब डॉ. सुमतिजी ने यह ठीक समझा कि यहीं के यहीं गुरुवर से ही पूछकर हमारे नाम कोई राग लिख दिया जाए। तीन रागों के नाम थे। अण्णासाहब ने झट से कहा- "लक्ष्मी तोड़ी लिख दो।" .... अब हमें तो इस राग की तालीम नहीं दी गई थी। बंबई में पत्र हाथ आया तो हम असमंजस में पड़ गए। इसी बीच अण्णासाहब का पोस्ट कार्ड भी मिला। गुरुवर हमें आधे रास्ते पर कैसे छोड़ते? उन्होंने लिखा था-"मैं पंजाब मेल से आ रहा हूं। तुम और भट शाम को हमारे घर आ जाना"

तय किए अनुसार हम मिले। और तीन छोटी छोटी बैठकों में अण्णासाहब ने हमें लक्ष्मी तोड़ी के आलाप सिखाए। सिखाने के दौरान धमार की एक बंदिश भी बना दी और उसकी भी तालीम हुई। इस प्रकार उस तात्कालिक तालीम की तीन बैठकें हुईं। तीसरी बैठक की समाप्ति के अवसर पर भटसाहब ने हिम्मत जुटाकर अण्णासाहब से कहा कि राग के स्वरूप के बारे में अभी भी हमारी कल्पनाएं पूरी स्पष्ट नहीं हुई हैं। आप हमें नमूने के तौर पर कुछ आलाप लिख दें तो हमारा मार्ग और खुलेगा। इसपर अण्णासाहब हंसते हुए इतना ही बोले कि कल तुम हमें स्टेशन पर मिलो। हम स्टेशन पर गए। अण्णासाहब ने श्रीमान भट को एक

कागज थाम दिया, जिसपर तीन-चार आलाप लिखे गए थे। उन्होंने कागज देते हुए कहा– "अब हम दिल्ली में ही तुम्हें सुनेंगे।"

संगीत-सभा शुरू हो गई। सामने विलायत हुसेन खा, पं. अंतुबुवा, निसार हुसेनखां, अण्णासाहब आदि दिग्गज बैठे हुए थे। हमारा वह कार्यक्रम बहुत कामयाब रहा और हमारी आगे की ध्रुपद यात्रा के लिए यह एक 'श्रीगणेश' ही हो गया और उसमें गुरुमहोदय का प्रसाद भी मिला। इसीके साथ अण्णासाहब का हम शिष्यों के प्रति जो दृढ़ विश्वास था उसके भी हमें दर्शन हुए जो अतीव उत्साहवर्धक थे! एक आदर्श गुरु की हैसियत से अपने शिष्यों की सुप्त सामर्थ्य का ज्ञान उन्हें बखूबी था और उसीके अनुसार समय समय पर वे शिष्यों को बढ़ावा देकर उनके लिए नई दिशाएं खोल देते थे।

आधुनिकतावादी दृष्टि

गुरुशिष्य संबंध को लेकर अण्णासाहब का दृष्टिकोण विशुद्ध और वस्तुनिष्ठ था। गुरु के पांव छूना, उनकी पूजा करना, दक्षिणाएं और भेंट-वस्तुएं देकर उन्हें प्रसन्न करना ऐसी बातों के लिए उनके स्वभाव में कोई स्थान न था। सच कहें तो इस मामले में वे अपने समय से आगे थे। किसीको विश्वास नहीं हो सकेगा, लेकिन हम लोगों को 'गुरु-पूर्णिमा' नामक संस्कार-विधि का ज्ञान तक नहीं था। मैरिस- भातखंडे कॉलेज में 'गुरु-पूर्णिमा' का समारोह कभी मनाया ही नहीं गया। बाद में जब हम बंबई में रहने लगे तब इस समारोह के बारे में हम जानने लगे। जब अण्णासाहब अवकाशप्राप्ति के उपरांत बम्बई आकर रहने लगे, तब गुरुपूर्णिमा के दिन मैं, भटसाहब मिठाई का बक्सा और एक हार लेकर उनसे मिलने जाते तो हम पर बड़ी डांट पड़ती थी। "यह क्या 'बुवाबाजी' (गुरुडम) कर रहे हो? यह हमारे सामने नहीं चलेगा।"

जीवन भर में अण्णासाहब ने किसीको पैर छूने नहीं दिया। वे हम शिष्यों से कहा करते थे "सारी भावनाएं तुम अपने मन में रखो। अपनी भावना से मन के द्वारा तुम हमारे सामने नतमस्तक हो जाओ। यह ऐसा नाटक मत करो। तुम्हारी भावनाएं सच्ची हों तो उनका फल तुम्हें अवश्य मिलेगा।" मैं कभी कभी उनके जूते उठाके देने लगता तो तुरंत रोक लेते।

यह सब आधुनिकतावादी दृष्टिकोण पं. भातखंडेजी की विचारप्रणाली का फल था, यों कहा जा सकता है। पंडितजी के ही संस्कार अण्णासाहब पर हुए थे। एक और अनुकूल बात भी उनके बारेमें हुई। उस्ताद फैयाजखांसाहब ने भी उन्हें पुरानी शिष्यपरंपरा की परिपाटी पर नहीं चलने दिया। यह बहुत बड़ी याने अहम बात है। यों अण्णासाहब जब भी उनके यहां जाते तो पैर छूकर बैठते; लेकिन उन्होंने खुद हमें बताया है कि खांसाहब ने मुझसे कभी घर या बाहर का कोई काम नहीं करवाया। एक बार खांसाहब बाहर निकलने को हुए तो अण्णासाहब ने उनके जूते लाकर सामने रख दिए। तुरंत खांसाहब ने कहा- "खबरदार! श्रीकृष्णा, यह तुम्हारा काम नहीं। इसके लिए घर में दूसरे लोग हैं।" खांसाहब की उदारता और गरिमा ऐसी थी कि वे अपने इस खास शिष्य को भी अपने ढंग से इज्जत देते थे। जब लखनऊ उनका आना होता, तब अण्णासाहब उनके दर्शन के लिए जाते ही थे। उस वक्त सामने शराब की बोतल हो, और पासवालों ने कह दिया कि "प्रिंसिपलसाहब आए हैं" तो खांसाहब कहते- "अच्छा, श्रीकृष्णा आया है। निकाल दो इसे, छिपाके रखो।" अब अण्णासाहब उनकी आदत जानते थे; वे कहते -"चलने दीजिए, खांसाहब। मुझे कोई आपत्ति नहीं।" खांसाहब कहते -

"नहीं, तुम्हारे सामने नहीं।"

तो ये सारे संस्कार हम शिष्यों पर भी हुए बिना कैसे रहते? मेरे किसी भी शिष्य से पूछा जाए। न मैं किसीसे कोई दक्षिणा लेता हूं और न 'गुरुपूर्णिमा' करवा लेता हूं। यदि कोई शिष्य मिलने आए तो यही कहता हूं कि यह हार अण्णासाहब के फोटो को चढ़ाओ। अण्णासाहब की भी अपने गुरु के प्रति यही निष्ठा थी। जब वे लखनऊ से सेवानिवृत्त होकर खैरागढ़ जाने निकले, तब स्टेशन पर तीन-साढ़ेतीन सौ लोग उन्हें बिदाई देने आए थे। प्लैटफार्म पूरा भर गया था। सभी की आंखों में आंसू थे - "हमारे प्रिंसिपलसाहब जा रहे हैं।" सब बड़े दुखी थे। जब गाड़ी छूटने को हुई तब सभी ने 'रातंजनकरजी की जय' कहना चाहा, किंतु इसी बीच अण्णासाहब ने घोषणा दी - 'बोलो भातखंडेजी की जय!" बहुत-से छात्रों ने अण्णासाहब से प्रार्थना की कि आप न जाएं। कइयों ने तो उपोषण तक आरंभ कर दिया। अण्णासाहब ने उन सबको समझाया - "प्यारे मित्रो, मुझ अकेले का बिछुड़ना आपके लिए इतना असहनीय हुआ है, और मैं तो आप सबसे बिछुड़कर जा रहा हूं। सोचो, तुम्हारा यह बिछोह मैं कैसे सह पाऊंगा!"

जाज्वल्य ध्येयवाद

गुरुशिष्य संबंध के बारे में आधुनिकतापूर्ण दृष्टिकोण भातखंडे परंपरा की ही वह विशेषता रही। किंतु जाज्वल्य ध्येयवाद को भी इसका श्रेय देना चाहिए। संगीत का कार्य करना है तो उसमें स्वार्थ का पोषण किंचिन्मात्र भी नहीं होना चाहिए, यह दृढ़ भावना उसके पीछे थी। विद्या गुरुपूजा से नहीं, बल्कि सघन साधना से प्राप्त होती है। इसीलिए अण्णासाहब हमें हमेशा बताते कि तुम अपना रियाज ईमानदारी से करो। अपने ज्ञान को विकसित करते रहो, बस यही मेरी गुरुदक्षिणा है। इसी ध्येयसंपन्न दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप उन्होंने 'संगीत' पर कभी धन नहीं कमाया। कॉलेज से जो वेतन मिलता था, उसीमें अपना योगक्षेम चलाया। वह वेतन भी कभी पूरा मिलता तो कभी अधूरा। लेकिन वे उसीमें अपना सब कुछ निभा लेते थे।

महफिलों, आकाशवाणी के प्रसारणों वगैरह से कुछ प्राप्ति होती तो थी, उस धन को वे अपने लिए नहीं रखते थे। वह सारा धन महाविद्यालय के कोष में जमा कर देते थे। जितना जरूरी है उतना रख लेते थे और शेष सब कॉलेज के फंड में जमा हो जाता था। जब छुट्टियों में बम्बई आते तब वहां के 'म्यूजिक सर्कल्स' में कम से कम ५-६ कार्यक्रम बाकायदे हुआ करते। हर कार्यक्रम के तीन सौ रुपये उन्हें मिल जाते थे। १९४०-५० के लिहाज से यह राशि कुछ कम नहीं थी। लेकिन वह सभी राशि आप कॉलेज के सहायता-कोष में जमा कर देते थे। खैरागढ़ में अण्णासाहब साढ़े तीन वर्ष रहे। वहां के वेतन से हर माह पांच सौ रुपये वे खैरागढ़ विश्वविद्यालय के फंड में जमा करवा देते थे। उनके अवकाश-ग्रहण के बाद इस विपुल राशि का विनियोग श्री प्रभाकर चिंचोरे ने 'भातखंडे स्मृति ग्रंथ' के निर्माण में कर लिया। ऐसा असामान्य त्याग और ऐसी कार्यनिष्ठा!

१९३७-३८ में 'ऑल इंडिया रेडियो' की स्थापना दिल्ली में हुई। शासकीय कर्मचारी वर्ग तैनात हो गया। उसमें डाइरेक्टर जनरल श्रीमान शास्त्री नाम के व्यक्ति थे और स्टेशन डाइरेक्टर थे श्रीमान लक्ष्मणन्। ये दोनों सज्जन अण्णासाहब को बहुत मानते थे और उनसे स्नेह रखते थे। उन्होंने आग्रहपूर्वक अण्णासाहब को लखनऊ से दिल्ली बुलवाकर उनका गायन प्रसारित

कराया। उस समय की सबसे अधिक फीस रुपये १०० उन्हें दी गई थी। अण्णासाहब अपने साथ तबलिया और सारंगिया लेकर गए थे। जब लखनऊ केंद्र खुला तब भी सहवादकों के बारेमें उनका यही रवैया था। अब इन सहवादकों को आकाशवाणी की ओर से तो कोई फीस नहीं मिलती थी; क्योंकि वे 'स्टाफ आर्टिस्ट' नहीं थे। अण्णासाहब अपनी फीस में से २५-३० रुपये हरेक को दे देते थे। और शेष रकम कॉलेज में जमा कर देते। इस प्रकार हमारे गुरुवर ने न किसी शिष्य से एक कौड़ी ली और न प्रोग्राम से पैसा कमाया। वह कहते थे कि विद्या कोई बेचनेवाली चीज नहीं। मैंने खुद अपने गुरुजी को कुछ नहीं दिया तो हमें क्या अधिकार है कि हम शिष्यों से कुछ ऐंठ लें? फैय्याजखांसाहब ने उनको शागिर्द बना लिया तब सिर्फ दो आने का खर्चा करवायाः गुड़-चने मंगाए और चाय-पानी के लिए पांच रुपये लग गए। ऐसे ऊंचे आदर्श उनके सामने थे। वही आदर्श उन्होंने हमारे सामने भी रखे और उसी पर चलने में हम शिष्यगण प्रयत्नशील रहे हैं। लखनऊ कॉलेज के संगीतविद्यालय के वातावरण में जो और दूसरे उस्ताद और कलाकार आते थे उनके ज्ञान का लाभ भी हम शिष्यों के लिए डॉ. रातंजनकर अवश्य उठाते थे।

उदार दूरदृष्टि

अण्णासाहब के विद्यादान में एक तरह की उदारता और दूरदृष्टि थी। वे गुण के पारखी गुनिजन थे। सारंगीनवाज बुंदूखां जब जब लखनऊ आते, हमेशा अण्णासाहब से मिलकर ही जाते, फिर बजाना तो होता ही था। अण्णासाहब की लगन रहती थी कि मेरे शिष्यों को इस नए अंदाज और कौशल का भी परिचय होना चाहिए। क्योंकि यह भी एक आदर्श है। एक बार उस्ताद मुश्ताक हुसैनखाँ, रामपूरवाले, कॉलेज पधारे और उनका गाने का लाजवाब कार्यक्रम हुआ। उनकी तीन सप्तक की तान प्रसिद्ध थी (मन्द्र षड्ज से अतितार षड्ज तक) इस क्रिया से हमारे एक गुरुभाई भट इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने रियाज द्वारा सफलतापूर्वक प्रत्यक्ष उसका अनुकरण स्पष्ट रूप से अपने गायन में करके दिखाया भी। तब उसे सुनकर अण्णासाहब के मुख से उद्‌गार निकले - अच्छा, मुश्ताक हुसैन खांसाहब तुम पर छा गए हैं।'' इस पर उनको पर्याप्त आनंद भी हुआ। ऐसी उदारता और गुण की परख थी उनकी। कॉलेज में जो भी अच्छे कलाकार आते, अण्णासाहब उनका प्रोग्राम करा देते और हम शिष्यों को वहां बिठाते। 'मेरे शिष्यों को इनका भी लाभ मिलना, चाहिए' यह दृष्टि उसके पीछे थी। अपना व्यक्तित्व स्वयं बनाने की दृष्टि से वे हर दिशा में शिष्यों का पथ आलोकित करते रहते थे। और हम भी कम उत्साही नहीं थे। हम वहां आनेवाले बड़े गायकों की तंबूरे पर साथ संगत करने के लिए हमेशा तत्पर रहते थे, उनकी बारीकियों पर पूरा ध्यान लगाकर हम उन्हें सुनते।

कभी कभी कोई उस्ताद किसी नई उद्‌भावना को हमारे उस माहौल में प्रचलित कर देते तो उसकी हवा बन जाती और अण्णासाहब भी उसका उपयोग अपने शिक्षाकार्य में कर लेते। मुश्ताक हुसैन खांसाहब ने उन दिनों 'रागसागर' नाम की एक नई शैली चला दी थी। इसकी संकल्पना यह थी कि आप कोई ऐसी बंदिश बनाइए, जिसमें कुछ रागों के नाम गुंथे हों। जब आप वह बंदिश गाएंगे तो जहां जिस राग का नाम आएगा उसका स्वरांग आपको उसमें दरसाना होगा। रागज्ञान को विकसित करने और श्रोताओं को प्रभावित करने का यह एक बढ़िया ढंग था। भला, अण्णासाहब इस अवसर को कैसे छोड़ते? एक बार अण्णासाहब हमारे कमरे में

बैठे हुए अपने कुछ शिष्यों के सामने कुछ रागों के स्वरूपों को गाकर समझा रहे थे। बाद में उन्होंने हम लोगों से कहा, "तुममें से एक एक करके मुझे किसी भी राग की फरमाइश करो और मैं तुरंत उस राग में अपना गाना परिवर्तित करूंगा।" यह खेल लगभग एक-डेढ़ घण्टे चलता रहा। फिर बाद में अपने कमरे में जाकर एक रचना बनाई जिसमें १२ रागों का संकलन है। रचना के बन जाने पर उन्होंने मुझे पुकारा और मैं उनके पास पहुंचते ही मुझे कहा - "कि इसे पढ़ो और इसकी एक एक प्रतिलिपि बनाकर बाकी शिष्यों को जो मेरे साथ मेरे कमरे में बैठे थे, दे दो। चौबीस घंटे के अंदर इसका स्वरकरण मुझे मिलना चाहिए, हरेक से।" यानी वह यह जानता चाहते थे कि किसने कहां तक उस बंदिश को उठा लिया है और राग की पहचान में किसकी कितनी बुद्धि चलती है। यह एक प्रकार से कॉलेज के 'पीरियाडिकल टेस्ट' के जैसा ही था।

अब वह कविता ऐसी थी -

'फूली बसंत बिन्द्रावन मो ।
प्रहर प्रभात की आई बहार।
पंचम कूकत कोयल।
नाचें विहंगगण विहार ।
धन्यासी देश जामें ।
श्याम सुंदर कानर कारो।
नंद दुलारो देसी भयो।।'

ध्यानपूर्वक देखा जाए तो इसमें बारह रागों के नाम आते हैं– बसंत, वृंदावनी सारंग, प्रभात भैरव, बहार, पंचम, बिहाग, धनाश्री, देस, श्याम कल्याण, कानड़ा, नंद और देसी। तो इस प्रकार रागसागर की इस बंदिश में बारह रागोंका संकलन था। मैंने वह कागज सबको दिया। मेरा मन उमंग से भरा था। किसीने उसपर कोई खास प्रयत्न तो किया नहीं। मैंने सात-आठ घंटे में ही उसका स्वरकरण कर लिया और सबेरे अण्णासाहब के कमरे में गया। मैंने हर राग के बिंदु पर उस राग के स्वरांग को रेखांकित किया था। मैंने कहा– "अण्णासाहब, मैंने तैयार कर लिया है।" "अच्छा! सुनाओ तो," फिर मैंने जब गाकर सुनाया तब मन ही मन खुश हुए। इतना ही कहा - "इसमें सत्तर-अस्सी प्रतिशत जो तानें और स्वरसंगतियां मैंने सोची थीं, वैसी ही हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यहां पर यह है कि अण्णासाहब के साथ मेरी आत्मीयता इतनी जुड़ गई थी और उनके विचारों से मैं इतना समरूप हो गया था कि उनके मन में जो सांगीतिक कल्पनाएं उठती थीं; उनका अनुमान मुझे अपने आप हो जाता था।

अंतरंग-दर्शन

१९३६ से लेकर अण्णासाहब ही मेरे लिए पिता-माता-गुरु सब कुछ थे। लखनऊ में उनके कमरे के पड़ोस में सोलह वर्ष रहा। इस कालावधि में ऐसे कई अवसर आए जिसमें उनका मेरे प्रति होनेवाला अपार स्नेह और प्यार का गहरा एहसास मुझे हुआ। लेकिन जैसा कि आपने कहा अपने विशिष्ट स्वभाव के कारण अतिरिक्त भावप्रदर्शन वे कभी नहीं करते थे। परंतु फिर भी ऐसे कुछ अवसर आ ही जाते थे। उनमें से दो घटनाओं का बयान मुझे करना ही होगा। ऐसा करके मैं उस ऋषितुल्य महान गुरु के प्रति अपनी आदरांजली समर्पित करना चाहता हूं।

लखनऊ से विदा होकर बम्बई लौटने के मेरे दिन नजदीक आने लगे थे। मैं मन-ही-मन कितना मायूस और बेचैन रहता था, कह नहीं सकता। ..... शुरू से ही मैं अण्णासाहब के खर्चे और आमदनी का पूरा हिसाब रखता आया था। जब मेरे जाने की तिथि निकट आने लगी, तब मैंने यह ठीक समझा कि जाने से पहले पूरा हिसाब अण्णासाहब को लिखित रूप में दे देना चाहिए। यों मैं कच्चा हिसाब लिखके रखता था, लेकिन मुझे इतना वक्त नहीं मिलता था, कि रोजबरोज बाकायदा उसे लिखके रखा जाए। मैंने उस पूरे हिसाब को एक एक करके साफ-सुथरे ढंग से लिखने का उपक्रम शुरू किया।

अब अपनी कुछ बेचैनी के कारण अण्णासाहब भी बार-बार मेरे कमरे में आकर बैठने लगे थे। वे पूछते– "यह क्या हो रहा है? क्या कर रहे हो?" मैं सिर्फ यही कहता "कुछ नहीं, अण्णासाहब कुछ नहीं।" मेरे जाने में दो दिन बचे थे और अण्णासाहब ने ठीक देख लिया कि मैं क्या कर रहा हूं। उनके पूछने पर मैंने बताया कि जाने से पहले मैं आपको पूरा हिसाब लिखित रूप में देना चाहता हूं। तब अण्णासाहब ने भावभीनी आवाज में कहा -

"आज तक मैंने कभी तुम्हारे पास हिसाब मांगा है?"

मैंने कहा - "नहीं, मेरा वह मंतव्य नहीं...."

"सुनो, यह सब तुम बंबई जाके करो। और मेरी तरफ से कोई बकाया हो तो मुझे सूचित कर देना, मैं भेज दूंगा। और यह भी जान लो कि तुम्हारी ओर से मुझे कुछ हिसाब मिलना हो तो, मुझे कुछ नहीं चाहिए। क्या दे सकते हो तुम मुझे?"

मेरे मुंह से हठात् निकल पड़ा– जैसे संत तुकारामने कहा था–

"हमारे चमड़े की जुती भी आपको पहना दूं तो भी जनम जनम तक आपका ऋण उतर नहीं सकेगा।"

सुनकर उनकी आंखों से भी आंसू ढलक पड़े। मैंने भी कहा -

"आप इतना कहते हैं तो ये कागज मैं भी फाड़के फेंक देता हूं। आज मुझे नई संपत्ति मिल गई है।"

तो गुरुवर्य अण्णासाहब का और मेरा नाता किस प्रकार का था यह कहना अति कठिन है। वे मेरे लिए माता-पिता, गुरु, बड़े भाई, एक सखा थे। इन विभिन्न रूपों में अपने इन विभिन्न भूमिकाओं द्वारा आपने दर्शन समय समय पर करवाए हैं।

मैं लखनऊ से बम्बई १९५१ में स्थायी रूप में वास्तव्य करने चला आया। मैंने निरंतर १६ वर्ष उनके सान्निध्य में बिताए थे। इस अवर्णित सम्बन्ध के कारण मेरे उनसे शीघ्र बिछड़ जाने की कल्पना से वे उन दिनों मन से कुछ अस्वस्थ (मनोमन दुःखी रहते थे।) मेरे उनसे स्थायी रूप से दूर जाने की कल्पना से वे खिन्न रहते थे। मेरे वहां से (उनके निकट सान्निध्य से) दूर जाने के दिन समीप आने लगे। ११ अगस्त १९५१ के दिन मैं लखनऊ से बम्बई के लिए रवाना हुआ। उनके कमरे में निकलने से पहले जाकर उनके चरण स्पर्श किये। तब उन्होंने मुझे अपने गले से लगाया और एक लिफाफा मेरे हाथ में देते हुए कहा, 'यह मेरे आशीर्वाद हैं।" बाद में वे मेरे साथ स्टेशन पर मुझे बिदा करने आए। लगभग ४०-५० मेरे छात्र-छात्राएँ एवम् मित्रगण भी स्टेशन पर आ पहुंचे थे। गाड़ी छूटने से पूर्व फिर से एक बार प्लॉटफार्म पर उतरकर अण्णासाहब के चरण स्पर्श करने उनके पास गया। मेरा आशय समझते हुए उन्होंने तुरंत मुझे फिरसे एक बार गले लगाकर प्रेमाश्रुओं से मुझे स्नेहाशीर्वाद दिए। गाड़ी

चल पड़ी। गाड़ी में मैंने उनका दिया हुवा बंद लिफाफा खोलकर देखा और उसमें मेरे लिए एक विलंबित ख्याल की बंदिश की रचना राग 'वियोग-वराळी' नामक एक नई राग-संकल्पना में मेरे नाम अपने आशीर्वाद रूप की हुई मिली। इस बंदिश के शब्द इस प्रकार हैं:

स्थायी - *लाख करोर जियो जियो*
नाद पुजारी हे!
जस कीरत अनत बढ़े
तिहारी या जग में हो।
अंतरा - *गावो, सुनावो रिझावो*
गायक गुणी कहावो
सदा रहो रत संगीत-सुधा-रस में हो।

आजतक इस बंदिश को गा नहीं सका। जब भी गाने का प्रयत्न करता हूँ, कण्ठ भर आता है।

मेरे बम्बई पहुँचने पर मेरे शिष्यों द्वारा मुझे ज्ञात हुआ कि स्टेशन से लौटने पर अण्णासाहब ने अपने को कमरे में बंद कर लिया। और लगभग दो-तीन दिन ठीक से खाना-पीना न कर सके।

विद्याविषयक अन्य कार्य

अब अण्णासाहब के कुछ अन्य विद्याविषयक कार्यों पर भी थोड़ा सोच लिया जाए। कॉलेज के प्रशासन और प्रशिक्षण के साथ ही साथ अण्णासाहब ने परिषदों में सहभाग, संगीत परिचर्चाओं में भाषण, आकाशवाणी पर गायन के साथ ही वार्ता-प्रसारण, प्रात्यक्षिक समेत व्याख्यान तथा ग्रंथनिर्माण इत्यादि अनेक कार्यों में भाग लिया। इनमें से ग्रंथों के बारे में पहले बात हो चुकी है। संगीत के अन्यान्य विषयों पर उन्होंने उत्तर भारत, महाराष्ट्र, गुजरात एवं दक्षिण भारत सभी स्थानों पर भाषण दिए थे। किंतु मैं यह कहना चाहूंगा कि वक्तृत्व-कला में वे उतने माहिर नहीं थे। लेकिन लिखने में वे गजब के उत्साही थे। एक बार उनके हाथ में कलम का स्थान मिल जाए, फिर पन्ने पर पन्ने लिखने का सिलसिला जारी हो जाता। ऐन मौके पर लंबा भाषण देना उन्हें उतना जमता नहीं था। लेकिन लिखने के लिए कोई भी विषय दीजिए तो उसमें कोई अटकाव नहीं रहता था। बगैर गुनगुनाए भी बंदिशें बनकर कागज पर हाजिर हो जाती थीं। अत: उनके जितने भी भाषण होते वे प्राय: लिखित रूप में पढ़ने के ढंग से होते थे।

उस जमाने की संगीत परिषदों में तो वे बराबर सहभागी होते थे, हां, यह भी बताना होगा कि उस जमाने में परिषदों का स्वरूप ज्यादातर संगीत-महोत्सव के जैसा रहता था। बहुत-से गवैये एकत्रित हो जाते थे और गाने-बजाने का उत्सव शुरू हो जाता था। पं. भातखंडेजी के जमाने तक चर्चाएं वगैरेह होती थीं, उसके बाद वैसा बहुत कम होता रहा। तथापि कुछ संगोष्ठियां अवश्य हुईं। आकाशवाणी-सम्मेलन में भी ऐसी संगोष्ठियां रखी गईं– ठाकुर जयदेवसिंह के जमाने में। 'डिमान्स्ट्रेशन लेक्चर' के बारे में आपने पूछा, किंतु यह तरीका आजकल ही प्रचार में आया है। फिर भी दिल्ली के गांधर्व महाविद्यालय में पं. विनयचंद्र मोद्गल्य के नेतृत्व में संगीत-संगोष्ठियों का आयोजन होता था। उनमें विशिष्ट रागों के उपभेद आदि विषयों को

लेकर प्रात्यक्षिक समेत व्याख्यान हुआ करता था, जिसमें उ. विलायतहुसेनखां जैसे गवैये भी सहभागी होते थे। किंतु ये संगोष्ठियां अधिकतर परीक्षाकेंद्रित रहती थीं - अलंकार और प्रवीण के छात्रों को मार्गदर्शन मिलने के उद्देश्य से। अब 'कानड़े के प्रकार' जैसे विषयों पर अण्णासाहब ने भाषण दिए हैं। उनके अन्यान्य लेखों और भाषणों को डॉ. रातंजनकर प्रतिष्ठान ने १९९२ में 'Aesthetic Aspects of India's Musical Heritage' के नाम से ग्रंथ रूप में प्रकाशित भी कर दिया है।

यद्यपि अण्णासाहब वक्तृत्वकला में प्रवीण नहीं थे, फिर भी एक आदर्श विद्यागुरु के पास विषय-विश्लेषण की और विषय को भलीभाँति समझाने की जो कला होती है, उसकी उनके पास कोई कमी नहीं थी। रागरूप को समझाना हो या संगीतविषयक किसी समस्या का ऊहापोह हो, आप हमेशा बुलंदी पर रहते थे। पक्ष-विपक्ष में चर्चा के या खंडन-मंडन के दौरान आप अपने आत्मविश्वास, सौजन्य और अकाट्य तर्क से बाजी मार लेते थे। १९४६ की बात है। पुणे के गांधर्व महाविद्यालय के वार्षिक स्नेहसम्मेलन में पं. विनायकराव पटवर्धनजी ने भारतीय संगीत प्रसारक मंडल की ओर से अण्णासाहब को प्रधान अतिथि के रूप में आमंत्रित किया था। अधिवेशन की सभा के प्रास्ताविक में पं. विनायकराव के सुपुत्र श्री नारायणराव ने भाषण दिया, जिसमें उन्होंने पं. भातखंडेजी के ग्रंथों पर कुछ आक्षेप उठाए और पंडितजी की विचारधारा के साथ अपना मतभेद व्यक्त किया। बाद में अण्णासाहब का अध्यक्षीय भाषण हुआ। उन्होंने आरंभ में ही इस बात पर हार्दिक संतोष व्यक्त किया कि नारायणराव जी ने, नुक्ताचीनी के लिए ही सही, हमारे गुरुवर के ग्रंथों का बारीकी से निरीक्षण किया। इसके बाद अण्णासाहब ने नारायणराव जी के एक एक मुद्दे को लेकर उसका खंडन और निरसन किया और वह भी प्रत्यक्ष प्रयोग के द्वारा किया। यह भी उल्लेखनीय है कि उस सभा में पुणे शहर के मान्यवर संगीतज्ञ एवं गायक-वादक गण, जैसे कि पं. गजाननबुवा, मिराशीबुवा, तांबेशास्त्री, आबासाहब मुजुमदार, प्रो. दत्तो वामन पोतदार तथा प्रो. ग. ह. रानड़े (संचालक) आदि, उपस्थित थे।

अनुसंधान-कार्य

विद्यापीठ के कार्यक्षेत्र में अनुसंधान या शोध कार्य को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो पं. भातखंडेजी का समस्त सांगीतिक जीवन एक सुफलित अनुसंधान-यज्ञ ही था। अण्णासाहब भी गुरु के पदचिह्नोंपर ही चलते रहे। उनके बारे में विशेष बात यह रही कि भातखंडे संगीत विद्यापीठ के तत्त्वावधान में विधिवत् शोध-कार्य करने और करवाने का अवसर उन्हें प्राप्त हुआ। इस सिलसिले में विशेष गौरव की बात यह है कि संपूर्ण संगीत-क्षेत्र में विश्वविद्यालयीन शोधकार्य करानेवाले सर्वप्रथम संगीताचार्य अण्णासाहब ही हैं। भातखंडे विद्यापीठ में 'डॉक्टरेट' (संगीताचार्य) की उपाधि प्राप्त करनेवाली पहली छात्रा श्रीमती सुमति मुटाटकर के गुरु एवं मार्गदर्शक अण्णासाहब ही रहे। इस दृष्टि से देश में हिंदुस्थानी संगीत-क्षेत्र में संगीत में डॉक्टरेट पानेवाली पहली छात्रा सुमति जी ही हैं। अन्य संस्थाओं की डॉक्टरेट की उपाधि का सिलसिला इसके पश्चात् जारी हुआ।

उपर्युक्त घटना के पूर्व स्वयं अण्णासाहब को भातखंडे संगीत विद्यापीठ के द्वारा मानद रूप में संगीताचार्य/डॉक्टरेट उपाधि ससम्मान प्रदान की गई थी। क्योंकि जब १९४० में भातखंडे संगीत विद्यापीठ की स्थापना हुई, तब अनुसंधान-कार्य को गति देने की जरूरत महसूस हुई।

इसके प्रथम चरण के रूप में यह ठीक समझा गया कि संप्रति जो ज्येष्ठ प्राध्यापक यहां अध्यापन करते हैं उन्हें 'संगीताचार्य' उपाधि प्रदान की जाए। इस प्रस्ताव के अनुसार चार ज्येष्ठ कलाकार-अध्यापकों को यह उपाधि १९४९ में एक औपचारिक प्रमाणपत्रवितरण-समारोह में प्रदान की गई - उस्ताद अल्लाउद्दीनखां, पं. राजाभैया पूछवाले, पं. वाड़ीलाल शिवराम और अण्णासाहब रातंजनकर। इसी दौरान कुछ वरिष्ठ अध्यापकों को 'संगीत निपुण' की उपाधि मानद रूप में प्रदान की गई - पं. जी. एन्. नातू (संगीत निपुण) पं. वी. जी. जोग (वाद्य निपुण), उ. सखावत हुसैन (वाद्य निपुण) और श्री. मोहनराव कल्याणपुरकर (नृत्य निपुण)।

यहां जाते जाते इस बात पर भी ध्यान खींचना अस्थान में नहीं होगा कि संगीत-क्षेत्र में सर्वप्रथम डॉक्टरेट उपाधिधारी महिला छात्र ही रही। इसका श्रेय श्रीमती मुटाटकर की लगन एवं महत्वाकांक्षा को देना ही होगा किंतु इस घटना की पृष्ठभूमि में अण्णासाहब के श्रेय को भी ध्यान में रखना होगा। वस्तुत: उत्तर भारत में महिलाओं के संगीत-शिक्षण के लिए उतनी अनुकूलता नहीं थी। किंतु भातखंडे संगीत महाविद्यालय का वातावरण, वहां का अध्यापक वर्ग, अण्णासाहब का अकलुष एवं समुचित नेतृत्व इन सभी अनुकूलताओं के कारण महिलाओं के अभिभावकों को उन्हें महाविद्यालय में संगीत-शिक्षा के लिए (और वह भी आगे चलकर होस्टेल में रहकर पढ़ने के लिए) भेजने में संकोच महसूस नहीं होता था। १९४० के आसपास जब हम सब अण्णासाहब के पास रहकर संगीत का उच्च शिक्षण पा रहे थे, तब कुछ महिलाएं भी हमारी सहपाठिनें थीं। इनमें उस समय की सुशीला नंबियार (आज मिश्रा), श्रीमती लीला वाड़ेगांवकर आदि महिलाएं भी थीं। श्रीमती मुटाटकर नागपुर में ही विशारद हो चुकी थीं। उनके लिए लखनऊ में यंग वुइमेन्स ख्रिश्चन असोसिएशन के होस्टल में निवास की व्यवस्था हो जाने के बाद उन्होंने वहां आकर विशारद की परीक्षा उत्तीर्ण करके विद्यापीठ के स्नातकोत्तर विभाग में प्रवेश लिया और अण्णासाहब के मार्गदर्शन में पहले 'निपुण' और पश्चात् 'संगीताचार्य' की उपाधि प्राप्त की।

खैरागढ़ विश्वविद्यालय में शोध-कार्य

जब अण्णासाहब खैरागढ़ के 'इंदिरा संगीत कला विश्वविद्यालय' के उपकुलपति बनकर गए तब वहां तो स्वाभाविक तौर पर उनके शोध-कार्य के लिए अधिक अवसर प्राप्त हुआ। उनके मन में संगीत विषयक अनेक नूतन विषयों की उद्भावनाएं हमेशा जागती ही रहती थीं। लखनऊ के कार्यकाल में ही लोकसंगीत के विषय में उनके मन में अनेक जिज्ञासाएं जागृत हुई थीं। वे बराबर सोचते रहते थे कि भरत के काल में जो जातिगायन था उसका सूत्र कहीं न कहीं पारंपारिक लोकसंगीत में ढूंढा जा सकता है। इस सिलसिले में उन्होंने लोकसंगीत का अध्ययन करना आरंभ किया था और भरतपुर इलाके के लोकसंगीत को जगह जगह पहुंचकर, सुनकर, उसकी स्वरलिपि बनाकर उन्होंने उसका अध्ययन किया और 'Folk songs of Bharatpur state' के नाम से एक एक पुस्तिका रियासत भरतपुर के द्वारा ही प्रकाशित कराई। इस कार्य में भरतपुर के दीवान और अण्णासाहब के स्नेही श्रीमान रामलाल बात्राजी ने बहुत सहायता पहुंचाई थी।

अण्णासाहब ने लोकसंगीत के अनुसंधान की दिशा में अपने शिष्यों को भी प्रोत्साहित किया। जोधपुर के संगीत विभाग की अध्यक्षा श्रीमती शांति सहल को उन्होंने प्रेरित किया। खैरागढ़

के परिसर में विद्यमान छत्तीसगढ़ी बोली के लोकगीतों का सांगीतिक विश्लेषण करने के लिए उन्होंने श्रीमती सुशीला पोहनकरजी को प्रोत्साहित किया और आगे चलकर उन्होंने इस विषय में अनुसंधान करके डॉक्टरेट प्राप्त की।

हमारे गुरुबंधु श्री दिनकर कायकिणी को हवेली संगीत के अध्ययन के लिए प्रेरणा देनेवाले अण्णासाहब ही थे। .... इस प्रकार अण्णासाहब के कलापक्ष, शास्त्रीय पक्ष और शोधपक्ष तीनों दृष्टिकोणों से निजी अध्यवसाय, छात्रों का मार्गदर्शन और अंतिम फलप्राप्ति की दिशा में निरंतर अनुसरण करनेवाले विद्यागुरु थे। उनके सान्निध्य में रहकर हम शिष्यों ने विद्याध्ययन का जो कलात्मक आनंद लूटा है वह वर्णनातीत है। उसकी कुछ थोड़ी झलक ही यहां बताना संभव हो सका। परंतु इतने अपर्याप्त वर्णन के आधार पर भी यह सिद्ध हो सकता है कि महापुरुष पं. भातखंडेजी ने संगीतक्षेत्र के नवजागरण की जो परिकल्पना की थी, जिस स्वप्न को वे बराबर संजोए रहे उसकी प्रत्यक्ष में अवतारणा करने में उनके शिष्योत्तम 'बाबू' ने पर्याप्त सफलता पाई और गुरुऋण को चुकाने में कोई कसर उठा न रखी। अपने अंतिम दिनों में विकलांग दशा में दिन बिताते समय पं. भातखंडेजी ने अण्णासाहब के नाम एक पत्र लिखा था, जिसमें इसी बात का स्पष्ट संकेत था। पंडितजी ने कहा था– "अब मुझे अपने भावी कार्य की चिंता नहीं। क्योंकि मुझे ऐसे मेधावी और कर्मठ शिष्य का लाभ हुआ है कि वह इस अनुष्ठान को समुचित दिशा में गति देकर रहेगा।"

....अब आता है क्षण अंतिम अध्याय का, जिसमें परमगुरु के अंतिम वियोग की अटल और दुखद अनुभूति से टकराना है। यह भी जानना है कि सांगीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त उन्होंने पारिवारिक जीवन कैसे बिताया, उनकी मानसिकता कैसी रही और यह भी देखना है कि स्वर्ग सिधारने के बाद भी उनके बारे में 'सुनता है गुरु ग्यानी' का अनुभव हम शिष्यगण किस प्रकार पाते रहे हैं.....।